

प्राचीन भारत में आर्थिक जीवन (जैन स्रोतों के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ० रवीन्द्र बहादुर सिंह*

किसी भी सभ्यता का मेरुदण्ड उसका आर्थिक ढाँचा होता है। वास्तव में भारतीय समाज का आर्थिक विकास 'पुरुषार्थ' के जीवन दर्शन के माध्यम से हुआ जिसमें अर्थ भी प्रधान तत्व माना गया है। प्रायः व्यक्ति की मनःकाक्षा अनेकानेक वस्तुएँ प्राप्त करने की होती है, जो अर्थ के सहयोग से ही पूर्णता को प्राप्त करती है। इसलिए धर्मशास्त्रकारों ने पुरुषार्थ के अन्तर्गत अर्थ की नियोजना की। अतः अर्थ मनुष्य को भौतिक और लौकिक सुख प्रदान करने वाला विशिष्ट तत्व माना गया है। महाभारत में इसे उच्चतम धर्म मानकर इसकी प्रतिष्ठा और महत्ता स्वीकार की गई है।¹ कौटिल्य और बृहस्पति जैसे अनेक भारतीय शास्त्रकारों ने भी मनुष्य के जीवन में अर्थ की आवश्यकता और महत्ता प्रतिपादित की है तथा इसे संसार का मूल माना है।²

जैन दर्शन मुख्तया निवृत्तिमूलक है, किन्तु व्यवहारिक जगत में जैन चिन्तकों और मनीषियों ने प्रवृत्ति मार्ग को निरुत्साहित नहीं किया है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव श्रमण-संस्कृति के ही आद्य संस्थापक नहीं थे, वे श्रम और कर्म (पुरुषार्थ) की महान संस्कृति के भी सूत्रधार थे। असि (राजतंत्र), मसि (अर्थतंत्र), कृषि (प्रजातंत्र), विद्या (ज्ञान-विज्ञान)। वाणिज्य (व्यापार-व्यवसाय) और शिल्प (कला-संस्कृति) का प्रायोगिक व सर्वउपयोगी ज्ञान प्रदान करने वाले ऋषभदेव अर्थशास्त्र के आद्य संस्थापक भी थे। जिनसेनाचार्य के अनुसार ऋषभ ने उनके ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती भरत को अर्थशास्त्र और अन्य विद्याओं की शिक्षा दी थी।³ जैन आगमयुग में अर्थशास्त्र होने के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं और अर्थ के महत्व और उपदेयता को रेखांकित करने वाले उदाहरण और उद्धरण प्रचुर हैं। प्रत्येक तीर्थंकर की माँ तीर्थंकर के च्यवन-कल्याणक के समय धन और समृद्धि की देवी लक्ष्मी और रत्नराशि के स्वप्न देखती हैं धन देवी लक्ष्मी का स्वप्न, कुल में धन की वृद्धि का सूचक माना गया है।⁴ जैन ग्रन्थ निशीथचूर्णि में धन अर्जन की प्रक्रिया को 'अट्टुत्पत्ति' कहा गया है।⁵ पद्यपुराण में धन के महत्व पर बल दिया है और इसके साथ यह भी कहा है कि धनार्जन धर्म के प्रतिकूल नहीं होना चाहिए।⁶ स्पष्ट है कि जैन परम्परा में भी अर्थ का स्थान महत्वपूर्ण है।

भूमि, श्रम, पूँजी तथा प्रबन्ध धन के उत्पादन में मुख्य कारण है, जिन्हें अर्थशास्त्र में उत्पादन के साधन कहा गया है।⁷ वृक्ष, वन, पहाड़, जल, निर्झर, खेती-बाड़ी खजिन सब कुछ भूमि के आश्रित हैं। आर्थिक जीवन में वनों का बड़ा महत्व था, वनों पर अनेक जीवों की जीविका निर्भर करती थी। वनों पर वस्त्र, काष्ठ, चर्म, हाथी-दौत, लाख आदि उद्योगों को कच्चा माल मिलता था। जैन ग्रन्थों में बताया गया है कि, कृषि भूमि की माँग बढ़ने पर जंगलों को काट कर भूमि को कृषि योग्य बनाया जाता था।

प्राचीन युग में उत्पादन के लिए श्रम भी पर्याप्त था। सेवक पुरुष, कुटुम्बी पुरुष, दास-दासी, भगीदार, प्रेषक (दूत), कर्मकार आदि आर्थिक उत्पादन में योगदान देते थे। उद्योगों को चलाने के लिए कुशल शिल्पी थे, जो अपनी सुरक्षा और उद्योगों के सम्बर्द्धन के लिए कुम्हार, वस्त्रकार, सवर्णकार आदि श्रेणियों में बद्ध हो गए थे। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में 18 श्रेणियों का उल्लेख है। कृषि, उद्योग और व्यापार के लिए पूँजी भी उपलब्ध थी। यद्यपि पूँजी के लिए आजकल की तरह बैंकों की व्यवस्था नहीं थी पर श्रेष्ठी, सार्थवाह, गाथापति और शिल्पियों की श्रेणियाँ अपना धन ब्याज पर देती थी। सार्थवाह, गाथापति और श्रेष्ठी अपनी दूरदर्शिता और साहस के कारण बड़े-बड़े उद्योग और वृहत स्तर पर व्यापार चलाने में

* प्रवक्ता-इतिहास विभाग, का०सु० साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अयोध्या, फैजाबाद

सक्षम थे। वह श्रम, भूमि और पूँजी का उचित समन्वय करके कम से कम में व्यय करके अधिक लाभ प्राप्त करते थे।

प्राचीन काल का आर्थिक जीवन कृषि मूलक था। कृषि और पशुपालन उस समय के प्रमुख उद्योग धन्धे थे। अहिंसा प्रधान जैन धर्म में कृषि कर्म निन्द्य नहीं है। खेती करने वाले श्रेष्ठ ही माने जाते थे।⁸ साधारणतया खेत छोटे-छोटे होते थे। कृषक स्वयं अपने परिवार की सहायता से कृषि करता था परन्तु बड़े-बड़े खेतों का उल्लेख भी मिलता है। आनन्द गाथापति के पास 500 हल प्रमाण भूमि थी।⁹ वृहत स्तर पर खेती की जाती थी, जिससे उत्पादन व्यय भी कम होता था। किसान खेत में एक साथ दो फसलें भी लगाते थे।

कृषि की उन्नत के लिए अनेक प्रकार के खाद और बीजों का प्रयोग किया जाता था। जैन ग्रन्थों से पता चलता है कि कृषक किस प्रकार से बीजों को सुरक्षित रखते थे कि अंकुरण क्षमता कई वर्षों तक बनी रहती थी।¹⁰ जैन महापुराण में सिंचाई के दो प्रकार के साधनों का उल्लेख मिलता है। अदेवमातृका-नहर, नदी आदि कृत्रिम साधन से सिंचाई व्यवस्था, देवमातृका-वर्षा के जल से सिंचाई व्यवस्था। जैन सूत्रों से 17 प्रकार के धान्यों का उल्लेख मिलता है:- ब्रीहि (चावल), यव (जौ), मसूर, गोधूम (गेहूँ), मूद्ग (मूँग), माष (उड़द), तिल, चणक (चना), अणु (चावल की एक किस्म), प्रियंगु (कंगनी), कोद्रव (कोदो), अकुष्ठक (कुट्ट), शालि (चावल), आढकी, कलाप (मटर), कुलत्थ (कुलथी) और सण (सन)। पशु पक्षियों से खेतों की सुरक्षा के लिए प्रयत्न किए जाते थे।

उपवन-उद्यान-वाटिका तत्कालीन हास-विलास के साधन तो थे ही पर उनमें तरह-तरह के फल और फूलों के पेड़ लगाकर उनमें पौष्टिक आहार और उनसे औषधियाँ प्राप्त की जाती थी। जैन ग्रन्थों में आए सहस्राम वनों के सन्दर्भों से प्रतीत होता है कि बड़े-बड़े उद्यान व्यापारिक उद्देश्य से लगाए जाते थे।¹¹ फलों से तरह-तरह के पेय तैयार किये जाते थे।

जैनागमों के रचनाकाल में पशुपालन वृहत स्तर पर होता था। कृषि, दूध, यातायात, मांस और चमड़े के लिए पशुओं का पालन किया जाता था। आर्थिक क्षेत्र में पशुओं के महत्व को समझते हुए उसके पालन-पोषण पर विशेष ध्यान दिया जाता था। जैन साहित्य से मत्स्य पालन के व्यवसाय का भी उल्लेख मिलता है। नदियों, तालाबों, झीलों में मछलियाँ पैदा की जाती थी। पक्षियों के अण्डों का व्यवसाय भी किया जाता था। जैन धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार ये व्यवसाय मान्य नहीं थे।

प्राचीन काल में देश की खनिज सम्पदा और वन सम्पदा से उद्योगों में बड़ी वृद्धि हुई थी। लगभग सभी प्रकार के उद्योग धन्धों की सूचना किसी न किसी रूप में जैन-ग्रन्थों में मिलती है। उद्योगों के लिए भूमि, श्रम, पूँजी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थे। औद्योगिक उत्पादनों के बिक्री के लिए देशी और विदेशी मण्डियाँ थी। प्राचीन काल में वस्त्र उद्योग बड़ी उन्नति पर था। मथुरा और विदिशा (भेलसा) वस्त्र उत्पादन के प्रमुख केन्द्र थे।¹² देश में सूती, रेशमी, ऊनी और चर्म वस्त्रों का निर्माण किया जाता था। देश में खनिज सम्पदा से धातु उद्योग में बड़ी उन्नति हुई थी। वन सम्पदा से काष्ठ, दाँत, चर्म प्रसाधन आदि उद्योगों ने उन्नति की थी। वास्तु उद्योग भी उन्नति पर था, सुन्दर भवनों का निर्माण इस बात की पुष्टि करता है। विलासमय जीवन की प्रमुखता के कारण सौन्दर्य प्रसाधन और मद्य आदि उद्योग भी प्रचलित थे। उस समय के उद्योग आज-कल के पूँजीगहन उद्योगों जैसे नहीं थे, अपितु वह लघु और कुटीर उद्योगों के रूप में प्रचलित थे।

आर्थिक धनार्जन के लिए भारतीय व्यापारी कठिनाइयों का सामना करते हुए भी सुदूर प्रदेशों से व्यापार करते थे। राज्य भी व्यापारियों को निर्यात के लिए प्रोत्साहित करता था। निर्यात करने वाली वस्तुओं पर राजकीय शुल्क नहीं लगता था। भारत से वस्त्र, रत्न, सुगन्धित पदार्थ, आभूषण, चीनी और खिलौनों का निर्यात किया जाता था। विदेशों से दास-दासी, घोड़े रत्न, रेशमी वस्त्र, सोना-चाँदी और

हाथी दाँत का आयात किया जाता था। निर्यात की अधिकता होने के कारण व्यापार बड़ा अनुकूल परिस्थिति में था।

देशी-विदेशी व्यापार के लिए प्रसिद्ध व्यापारिक मार्गों का वर्णन भी जैन-ग्रन्थों में मिलता है। परिवहन पर कृषि और उद्योगों से उत्पादित वस्तुओं का आवागमन आधारित था। नगरों और गाँवों में व्यवस्थित और चौड़े मार्ग बने थे। साधारण यातायात वाला मार्ग पथ कहलाता था। पाटलिपुत्र से काबुल-कन्धार जाने वाला मार्ग उत्तरापथ कहा जाता था। दक्षिण को जाने वाला मार्ग दक्षिणपथ कहा जाता था। स्थल मार्गों के लिए रथ, बैलगाड़ी, शकट, हाथी, घोड़ा, ऊँट आदि वाहन थे। देश की नदियाँ मुख्य जलमार्ग प्रस्तुत करती थीं यह मार्ग समुद्र के किनारे पर बसे जल पत्तनों तक पहुँचते थे। वहाँ से मार्ग समुद्री मार्गों द्वारा सिंघल-द्वीप, यवद्वीप, स्वर्णद्वीप, रत्नद्वीप और चीन तक जाते थे। समुद्री रास्ते बड़े असुरक्षित थे। देश के विभिन्न व्यापारिक केन्द्र जल-स्थल मार्गों से आपस में जुड़े हुए थे।

प्राचीन काल में विनियम दो प्रकार से किया जाता था। पहला-वस्तु से वस्तु की अदला-बदली, दूसरा-वस्तु का मुद्रा का बदले लिया या दिया जाना। प्राचीन काल में ये दोनों पद्धतियाँ प्रचलित थीं। प्राचीनकाल में लेन-देन में मुख्य रूप से सिक्कों का प्रचलन था। यह सोना, चाँदी और ताँबे के बनाये जाते थे। सुवर्ण सिक्कों में निष्क, सुवर्ण, दीनार, केवडिक और सुवर्णमाष का उल्लेख हुआ है। चाँदी के सिक्कों में कार्षापण, अर्द्धकार्षापण, रूवग, सभारग, नेलक और द्रम का उल्लेख है। ताँबे के सिक्कों में पण, माष और काकणी का उल्लेख हुआ है। जैनग्रन्थ निशीथचूर्णि के अनुसार प्रतिदिन के व्यवहार में ताम्र के सिक्कों का प्रयोग होता था।¹³ छोटे सिक्कों के रूप में कौड़ियों का प्रयोग किया जाता था। जैन ग्रन्थों में कौड़ी का कवडुक कहा गया है।¹⁴ सिक्कों का मूल्य धातु और आकार पर निर्भर करता था। सुवर्ण सिक्के सबसे अधिक मूल्यवान थे। दैनिक व्यवहार में ताँबे के सिक्कों और कौड़ियों का प्रयोग किया जाता था।

प्राचीनकाल में भूमि, श्रम, पूँजी और प्रबन्ध आदि उत्पादन के साधन थे। भू-स्वामी को भूमि के प्रयोग के लिए दिये जाने वाले लगान को भाग या अंश कहा जाता था। राष्ट्रीय आय का जो भाग श्रमिक को उसके श्रम के बदले में दिया जाता था उसे भृत्ति या वेतन कहा जाता था। भृत्ति, नकद, वस्त्र या दोनों को मिला कर दी जाती थी। पूँजीपति को दिये जाने वाले ब्याज को बृद्धि कहा जाता था। ब्याज की दर बहुत ऊँची होती थी। ऋण लिखा पढ़ी करके साक्षी की उपस्थिति में दिया जाता था। श्रेष्ठी, सार्थवाह, गाथापति और श्रमिकों की श्रेणियाँ ब्याज पर पूँजी देती थी। प्रबन्धक के अंश को लाभ कहा जाता था। अनावश्यक धन, सम्पत्ति तथा पदार्थों का संग्रह करना अथवा उन पर आसक्ति रखना परिग्रह माना जाता था। महावीर ने असंविभाग करने के लिए कहा था। उन्होंने कहा था—“असंविभाग शाहु तस्स मौकखा” अर्थात् जो अपनी सम्पत्ति का विभाजन नहीं करता, दूसरों को बाँटता नहीं उसको मोक्ष नहीं मिल सकता।

व्यापार, वाणिज्य और उद्योगों का संचालन प्रजाहित के लिए होता रहे तथा शासन के द्वारा उसका नियन्त्रण और नियमन होता रहे, इसके लिए राजस्व और कर-प्रणालियों की विद्यमानता के उल्लेख भी जैन ग्रन्थों में मिलते हैं। प्रजा पर कर लगाकर कोष की बृद्धि की जाती थी। कृषि कर, भूमिकर, वाणिज्य शुल्क, स्वामी रहित धन, बेगार-दण्ड-उपहार और भेंट द्वारा प्राप्त धन, विजित राजाओं से प्राप्त धन कोष की आय के साधन थे, कर नकद और वस्तु दोनों रूपों में लिया जाता था।

राज्य की तरह व्यय का क्षेत्र भी व्यापक था। करो से प्राप्त धन का उपयोग राज्य के आन्तरिक एवं बाह्य प्रबन्ध, यथा सेना, न्याय व्यवस्था, जन-कल्याण, राजा की व्यक्तिगत आवश्यकताओं और अन्तःपुर के रख-रखाव के लिए किया जाता था। वही राजा उत्तम माना जाता था जो अपनी प्रजा की सुख-समृद्धि का विशेष ध्यान रखता था।

इस प्रकार उपर्युक्त विचारों के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि हिन्दू और जैन दोनों परम्पराओं में अर्थ का बड़ा महत्व था। अर्थ की महत्ता पर बल देते हुए महाभारत में कहा गया है कि अर्थ उच्चतम धर्म है। प्रत्येक वस्तु उस पर निर्भर रहती है अर्थ सम्पन्न लोग सुख से रहते हैं तथा अर्थहीन लोग मृतक के समान हैं। अर्थ की उपादेयता पर प्रकाश डालते हुए जैन ग्रन्थ पउमचरियं में कहा गया है कि जिसके पास धन है वह सुखी है, वही पण्डित है, वही यशस्वी है, वही महान है, धर्म भी उसी के अधीन है, अहिंसा के उपदेश वाले धर्म के पालन में भी धनवान ही समर्थ हो सकता है।¹⁵

सन्दर्भ-संकेत-

1. महाभारत, उद्योग पर्व- 72/23-24
2. अर्थशास्त्र, 1/70/10-11; वृहिस्पति सूत्र 6/7-12
3. आदिपुराण-16/119
4. 'अभिसेयदाम', कूल्पसूत्र, सूत्र-5
5. निशीथचूर्णि, भाग-4/ गाथा .6397 (अट्टुप्पत्ति ववहारो)
6. पद्य-35/161-164
7. मार्शल, एल्फर्ड, अर्थशास्त्र के सिद्धान्त, खण्ड-चतुर्थ
8. स्थानांग 5/71
9. उपासक दशांग- 1/28
10. भगवती सूत्र 6/7, 1, 3
11. सहस्यववणो उज्जाणे-उपासक दशांग 6/2, 7/2
12. आवश्यक टीका, (हरिभद्र), पृ0 307
13. निशीथचूर्णि, भाग-3, गाथा 3070
14. बृहत्कल्प भाष्य 2/1969, निशीथचूर्णि 3.3070
15. पउमचरियं 35/66-67

